तप

प्रा० डॉ० एच० यु० पण्डया

तपस् शब्द √तप् धातु से निष्पन्न हुआ है। यह धातु दाह [ग. १०]; संताप [ग.१] और ऐश्वर्य [ग.४] परक अर्थों में है। ऋग्वेद में यह धातु तीनों अर्थों में प्रयुक्त हुई है, इन में से दाह[१] और सन्ताप[२] अर्थ सायण ने स्पष्ट रूप से बताए हैं किन्तु ऐश्वर्य अर्थ स्पष्ट रूप से नहीं बताया है, [फिर भी तपोजाँ (न्) ऋषीन्[३]...। या च गाः अङ्गिरसः तपसा चक्रुः[४] और ऋतं सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत[५] आदि में ऐश्वर्य परक अर्थ देखा जा सकता है]।

इसके अलावा यह धातु ऋग्वेद में पीड़ा[६], विनाश[७], तापप्रद[८], संस्कारक (विशुद्धि)[९], प्रकाशक[१०] और गरम करना[११] आदि विभिन्न अर्थों में भी है। ये सभी अर्थ तपश्चर्या के साथ जुड़े हुए हैं।

इस धातु से निष्पन्न हुए तपस्, तपस्वान्[१२], तपुः[१३], तपुषि[१४], तपुष्[१५], तपिष्ठ[१६],

---

पी० वी० रिसर्च इन्स्टीट्यूट के उपक्रम में फर्स्ट ऑल इन्डिया कोन्फरेंस ऑफ प्राकृत एण्ड जैन स्टडीज, दि० २-५ जनवरी १९८८ में पढ़ा गया पेपर।

१. तप—दह...६-५-४; ६-२२-८
२. तपः सन्तापः ७-८२-७
३. ऋग्वेद १०-१५४-५
४. तपसा —पशुप्राप्तिसाधनेन चित्रयागादि लक्षणेन—सायण १०-१६९-२
५. ब्रह्मणा पुरा सृष्टचर्थं कृतात् तपसः—सायण—मानस और वाचिक सत्य तप से उत्पन्न हुए, उससे रातदिन उत्पन्न हुए···ऋ १०-१९०-१
६. तपो—बाधस्व, ३-१८-२
७. तपः—क्षपय ३-१८-२
८. तपः—तपसा—तापनेन, १०-१०९-१; तपस्व—तप्तं कुरु १०-१६-४
९. तपतु—संस्करोतु १०-१६-४
१०. तपतु—प्रदीप्यताम् (सूर्यः) ८-१८-९
११. तपस्व—तप्तं कुरु १०-१६-४
१२. ऋ० ६-५-४
१३. तपुः तप्यमानः—७-१०४-२
१४. तापयति अनेन अन्यम् १-४२-४;
१५. तापक ८-२३-१४
१६. तापयिता ३-३०-१६; ७-५९-८; १०-८९-१२;
तप्यमान १०-८७-२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपनी[1], तपन[2], आदि शब्द भी ऋग्वेद में तेजस्वी, तापक और तप्यमान अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

ऋग्वेद में तपस् शब्द तेज[3], उष्णप्रद[4], यज्ञादि साधन[5], तपश्चर्या[6] (चान्द्रायणादिव्रत), व्रत[7] आदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इसके आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक युग में तप के दो स्वरूप थे—१. यज्ञरूप तप और २. चान्द्रायणादिव्रत रूप तप।

तप के प्रति श्रद्धा—रामायण, महाभारत, भागवत, बुद्धचरित आदि ग्रन्थों में तप के प्रति आदर की अभिव्यक्ति की गई है जैसे—रामायण में तप को उत्तम और अन्य सुखों को व्यर्थ कहा है।[8] इतना ही नहीं तप रूप धर्म को ही चार युगों का व्यावर्तक लक्षण माना है, जैसे कि सत्ययुग में केवल ब्राह्मण, त्रेता में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय, द्वापर में उन दोनों के उपरान्त वैश्य तप करते थे, और कलियुग में उन तीनों के उपरान्त शूद्र भी तप करेंगे।[9]

महाभारत आदि में कहा गया है कि ब्रह्मादि देव, देवर्षि, ब्रह्मर्षि एवं राजर्षियों ने कठोर तपस्या करके इष्टसिद्धि प्राप्त की थी। तप पवित्रकर्ता है[10] और वह भगवान् से उत्पन्न हुआ है।[11] वह भगवान् का हृदय एवं आत्मा है, तपोबल से वे सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं।[12] तप से भगवद् प्रीति[13], बल[14] और सिद्धियाँ[15] मिलती हैं। स्वर्ग[16] और वैराग[17] आदि उत्तम लोक में गति होती है इतना ही नहीं ईश्वर प्राप्ति भी होती

१. तापकारिणी २-२३-१४
२. सन्तापकः २-२३-४; १०-३४-७
३. ६-५-४
४. १०-१०९-१
५. तपसा—यागादिरूपेण साधनेन १०-१५४-२; १०-१८३-१
६. तपसा—कृच्छ्रचान्द्रायणादिना युक्ताः सन्तः १०-१५४-२, तपश्चरणाय १०-१०९-४
७. तपसः—दीक्षारूपात् व्रतात् १०-१८३-१
८. उत्तरकांड ८४-९
९. उत्तरकाण्ड ७४-१० से २७
१०. महाभारत वनपर्व २१३-२८
११. भगवद्गीता १०-५
१२. भागवत २-९-२२; २३ तथा ६-४-४६
१३. वही ३-९-४१
१४. वही ३-१०-६
१५. वही ९-६-३९ से ४८
१६. ऋ० १०-१५४-२; १०-१६७-१; बुद्धचरित ७-२०
१७. उत्तररामचरित २-१२ पृ. ४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।[१] तपस्वी के सिर से सधूम अग्नि निकलती है, जिससे पृथ्वी क्षुब्ध हो जाती है।[२] इसके आधार पर कह सकते हैं कि प्राचीन काल से ही समाज में तप के प्रति अत्यन्त आदर था।

तप की दो धाराएँ—मुंडकोपनिषद् में ज्ञान को तप कहा है। शंकराचार्य स्पष्ट कहते हैं कि सर्वज्ञ रूप ज्ञान ही तप है, तप आया सरूपस नहीं है।[३] इसके आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक युग में तप की दो धाराएँ अस्तित्व में आ चुकी थीं—(१) शरीर कष्टप्रद तप और (२) ज्ञान रूप तप। प्रथम धारा मुख्यतः शरीरकेन्द्री है और दूसरी धारा मनः-केन्द्री एवं आत्मकेन्द्री है। प्रथम धारा में परम्परया मन का आत्मा से सम्बन्ध जुड़ता है, जबकि दूसरी धारा मन एवं आत्मा को सीधा स्पर्श करती है। इन दो धाराओं में से प्रथम धारा को अधिक प्राचीन मानना पड़ेगा, क्योंकि (१) तपस् शब्द का मूल √तप् धातु है; (२) उपनिषद्, गीता, जैन और बौद्ध परम्परा प्रथम धारा में सुधार लाने का प्रयास करती है, (३) फिर भी प्रथम धारा आज तक अक्षुण्ण चलती आ रही है।

१. शरीर कष्टप्रद तप—रामायण, महाभारत, पुराण एवं काव्य में इस धारा का निरूपण दूसरी धारा से अधिक मात्रा में पाया जाता है, जैसे—

रामायण के अनुसार विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षिपद की प्राप्ति के लिये हजारों वर्ष तक फल मूल का ही भोजन करके उग्र तपस्या की थी।[४] मांडकर्णि मुनि ने जल में बैठकर वायु का ही भोजन (प्राणायाम) किया था।[५] सप्तजन ऋषि अपना सर नीचा रखते हुए हर सातवीं रात्रि को वायु का भोजन (कुंभक प्राणायाम) करते थे।[६] शूद्रक ने अधोमुख लटक कर सरोवर में तप किया था।[७] कुंभकर्ण मनोनिग्रह करके ग्रीष्म में पंचाग्नितप, वर्षा में शिला-निवास और शीत में जलवास करता था। विभीषण सूर्य की दिशा में, हाथ ऊँचा रखते हुए एक पैर पर खड़ा रहकर स्वाध्याय करता था और रावण दश हजार वर्ष तक निराहार रहा था।[८]

महाभारत में शिलोंछावृत्ति, जलाहार, वायुभोजन, पंचाग्नितप, एकपाद स्थिति,[९] शीर्णपर्ण भोजन, ऊर्ध्वबाहु, पादांगुष्ठाग्रस्थिति आदि[१०] तपों का निरूपण है। त्रिरात्रि को आहार, पन्द्रह दिनान्ते आहार आदि[११] तपों का असर जैन अट्ठम उपवास आदि पर देखा जा

१. भागवत ३-१२-१८; १९
२. भागवत ७-३-२; ४
३. यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। मुं० १-१-९; ज्ञानविकारमेव सार्वज्ञ लक्षणं तपो नायास-लक्षणं······मुं०—शांकरभाष्य १-१-९ पृ० २२
४. रा० बालकांड ५७-३
५. वायुभक्षो जलाशयः—रा० अरण्यकांड ११-१२.
६. रा० किष्किधाकांड १३-१८; १९.
७. रा० उत्तरकांड ७५-१४
८. वही १०-३ से १०
९. म० आदिपर्व ८६-१४ से १७
१०. म० वनपर्व १०६-११
११. वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता है। भागवत के समय से तप प्रचलित रहे हैं।[१] पद्मपुराण में इन तप भेदों के अतिरिक्त तृषा लगने पर कुशाग्र नीर बिंदु पान, एक दिन कुंभक प्राणायाम, एक मास कुंभक, चतुर्मासिव्रत, ऋतु के अंत में जलाहार, उपवास, छः मास उपवास, वर्षा निमेषत्य, वर्षाजल का आहार, वृक्षवत् स्थिति आदि तप भेदों का उल्लेख मिलता है। ऐसे तपस्वी के शरीर पर वल्मीक हो जाता है, केवल स्नायु एवं हड्डियाँ ही बचती हैं, जटा पक्षियों का निवास बन जाती है और शरीर पर घास भी उगती है[२] वैदिक एवं जैन मत छः मासिक उपवास को स्वीकृति देते हैं।

बुद्ध चरित में शिलोंछवृत्ति, तृण-पर्ण-जल-फल-कन्द-वायु-आहार, जल निवास, पत्थर से पीस कर खाना, दाँतों से छिल कर खाना, अतिथि के भोजन के बाद यदि अवशिष्ट रहे तो खाना आदि तपभेदों का उल्लेख मिलता है।[३]

रघुवंश में सीतात्याग प्रसंग में (सीता संदेश में) सीता सूर्य निविष्ट दृष्टि तप का निर्णय करती है[४] जिसका उल्लेख रामायण में नहीं है।[५] इसके आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि कालिदास के काल में सूर्य त्राटक की महिमा थी। भगवतीसूत्र के अनुसार गोशालक सूर्यत्राटक से तेजोलेश्यासिद्धि प्राप्त करता है। कुमारसंभव में पार्वती अग्निहोम, पंचाग्नितप, शीत में जलवास, वर्षा में शिलावास, शीर्णपर्णाहार, अयोचित जल का पान, पर्णाहारत्याग, वृक्षवत् स्थिति आदि कठिन तप करती है।[६] किरातार्जुनीयम् में अर्जुन उपवास, एकपाद स्थिति आदि तप करता है।[७] महाभारत में अर्जुन की कठोर तपस्या का विशद वर्णन है[८], किन्तु भारवि ने, आवश्यकता होने पर भी, अति संक्षिप्त वर्णन किया है, संभव है भारवि कठोर तप की ओर कम रुचि रखता हो। दूसरी ओर उत्तररामचरित में शम्बूक को धूमभोजी बताया है[९] जिसका उल्लेख रामायण में नहीं है।[१०] इससे ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि समाज में दोनों धाराएँ चलती रही थीं।

इन सभी तप भेदों का अंतर्भाव चार विभाग में किया जा सकता है—१. होम, २. प्राणायाम, ३. उपवास और ४. पंचाग्नि—जलनिवासादि अन्य दुष्कर तप। इनमें से होम और प्राणायाम का जैनमत में अस्वीकार इसलिए किया गया कि वे दोनों जैनमत के अनुकूल नहीं थे क्योंकि होम से अग्निकाय के और प्राणायाम से वायुकाय के जीवों की विराधना होती थी।

---

१. भागवत २-९-८; ४-२३-४ से ११, ७-३-२.

२. पद्मपुराण; उद्धृत शब्दकल्पद्रुम कोश

३. बुद्धचरित ७-१४ से १७

४. रघुवंश १४-६६ सारं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिः;……

५. रामायण उत्तरकांड ४८-३ से १९.

६. कुमारसंभव ५-८ से २९

७. किरातार्जुनीयम् ३-२८; ६-१९, २६; १२-२

८. म० वनपर्व ३८-२३ से २४

९. उत्तररामचरित अंक २ पृ० ४६

१०. रामायण उत्तरकांड ७५-१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि वैदिक परंपरा में गीता में प्राणसंयम (प्राणायाम) को तप की संज्ञा नहीं दी गई, किन्तु एक विशिष्ट यज्ञ के रूप में उसे अवश्य स्वीकार किया गया।[१] पतंजलि ने अष्टांगयोग के चतुर्थ अंग में उसे स्थान दिया[२] और हठयोग में तो वह केन्द्र-स्थान में ही जा बैठा। यद्यपि जैन मत में मध्यकाल में आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में प्राणायाम को चित्तस्थैर्य का एक उपाय माना।[३] किन्तु उससे प्राचीन आवश्यक निर्युक्ति के समय में उसके प्रति अरुचि बताई गई थी। परवर्ती काल में भी यशोविजयजी ने स्पष्ट रूप से कहा कि प्राणायाम इन्द्रियजय का निश्चित उपाय नहीं है किन्तु ज्ञानरूप राजयोग ही निश्चित उपाय है।[४]

जैन परम्परा में उपवास के प्रति बड़ी श्रद्धा देखी जाती है। इस परम्परा ने पंचाग्नि-तप, जलशयन, कन्दमूल आहार आदि बहुत से तपभेदों को छोड़ दिया, जो स्वमत के अनुकूल नहीं थे और चान्द्रायणव्रत, वृक्षवत् स्थिति स्वाध्याय, अमुक ही अन्न का स्वीकार आदि कुछ तप भेदों को स्वीकार किया, जो स्वमत के अनुकूल थे।

२. **ज्ञानरूप तप**—इस विचारधारा का मत है कि ध्येयसिद्धि शरीर को बिना कष्ट दिये भी संभव है। इस धारा का प्रारम्भ उपनिषद् काल में ही हुआ था। आगे बताया गया है कि मुंडकोपनिषद् में ज्ञान को तप माना है। भगवद्गीता में तप को तीन विभागों में विभक्त किया है— शारीरिक, वाचिक और मानसिक। देव ब्राह्मण, गुरु एवं विद्वान् का सत्कार, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप है। सत्य, प्रिय, हितकारी एवं अनुद्वेगकर (उद्वेगरहित) वाक्य वाचिक तप है और मन की प्रसन्नता, मौन, आत्मसंयम एवं भावशुद्धि मानसिक तप है। इससे स्पष्ट है कि गीता पंचाग्नितप आदि घोर तप का अंतर्भाव इन तप-भेदों में नहीं करती है, इतना ही नहीं उसने घोर तप की निंदा भी की है। जैसे "घोर तप से शरीरगत ईश्वर को पीड़ा पहुँचती है। ऐसे तपस्वी असुर हैं आदि"।[५] इन तीन भेदों के प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं— सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। इस तरह गीता में कुल नौ भेद बताये हैं।[६] योग भाष्य में चित्त की प्रसन्नता में बाधा नहीं पहुँचाने वाले तप को स्वीकार किया है।[७] इस तरह वैदिक परम्परा में दोनों धाराएँ स्वीकृत हुई हैं और आज भी चलती रही हैं।

---

१. भगवद्गीता ४-२९; ३०

२. पा० योगसूत्र २-२९

३. योगशास्त्र ५-१ से ३१

४. न च प्राणायामादि हठयोगाभ्यासश्चित्तनिरोधे परमेन्द्रियजये च निश्चितउपायोऽपि, ऊसासं ण णिरुंभई [आ० नि० १५१०] इत्याद्यागमेन योगसमाधिविघ्नत्वेन बहुलं तस्य निषिद्धत्वात्······ पा० यो० सू० यशोविजयकृत वृत्ति २-५५ पृ० ३८

५. कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्धयासुरनिश्चयान्॥ भगवद्गीता १७-६

६. भगवद्गीता १७-१४ से १९. ६१

७. तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानम्···पा० यो० व्यासभाष्य २-१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध परम्परा कष्टप्रद तप की निंदा करती है[1] अतः वह दूसरी धारा की ही समर्थक है। यद्यपि जैन परम्परा ने उपवास का एवं अमुक अन्य तप भेदों को स्वीकार किया है फिर भी उसका झुकाव ज्ञानरूप तप की ओर है, अतः वह मुख्यरूपेण दूसरी धारा की समर्थक रही है, क्योंकि अनशन, कायक्लेश आदि को उसने बाह्यतप कहा है।

तप की व्यवस्था—प्राचीन काल में तप स्वतंत्ररूप में था। जैसे कि केनोपनिषद् में दम, कर्म, वेद और शिक्षादि वेदांगों की तरह तप को भी स्वतंत्र बताया है।[2] महाभारत में धर्म, विद्या[3] इन्द्रिय संयम, विविध प्राणायाम, नियत आहार, द्रव्ययज्ञ, योग, स्वाध्याय, ज्ञान, दान, दम, अहिंसा, सत्य, अभ्यास और ध्यान से तप को स्वतंत्र बताया है।[4] गीता के काल में यज्ञ, दान, और तप की महिमा अधिक थी, क्योंकि ये तीनों पवित्र करने वाले होने से इनको अनिवार्य माना गया था।[5] अतः इन तीनों का विशद निरूपण करने के लिए गीता में एक स्वतंत्र अध्याय (१७) रखा गया है।

इस स्वतन्त्र उपायरूप तप को अन्य से संलग्न करने का प्रयास वैदिक और जैन दोनों परम्पराओं में हुआ है: जैसे—यद्यपि पतंजलि ने तप और समाधि को सिद्धि प्राप्ति के उपायरूप में स्वतन्त्र बताया है,[6] फिर भी उन्होंने मुख्यरूपेण तप को अष्टांगयोग के द्वितीय अंग (नियम) में और प्राणायाम को चतुर्थ अंग में समाविष्ट किया[7] और तप, स्वाध्याय एवं क्रियायोग को समाधि के लिए आवश्यक माना।[8]

जैन परम्परा में स्थानांग के समय में तप के मुख्य दो भेद स्वीकृत हुए—बाह्य और आभ्यंतर। बाह्य तप के छः भेद हैं—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश। आभ्यंतर तप के भी छः भेद हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।[9] उमास्वाति ने धर्म के दस अंगों में तप का अंतर्भाव करके तप का संबंध धर्म से जोड़ दिया[10] और यथाशक्ति तप को स्वीकृति देकर[11] एवं अग्नि प्रवेशादि को बालतप (जो तप देवायुस्थ का आस्रव है) कहकर[12] सुधारणा की प्रवृत्ति कं

१. गोतमो सब्बं तपं गर्हति···दीघ निकाय १-१६१; संयुत्त ४-३३०, उद्धृत पालि इंग्लिश डिक्शनरी लंडन १९५९
२. केन० ४-८
३. महाभारत वनपर्व २१३।२९
४. भगवद्गीता ४-२; ४-२६ से ३०; ६-४६; १२-१२; १६-१ से ३
५. वही १८-३, ५
६. जन्मौषधिमंत्रतपःसमाधिजा सिद्धयः। पातञ्जल योगदर्शन ४-१
७. पातञ्जल योगदर्शन २-२९; ३०
८. वही २-१
९. ठाणांग ५११
१०. तत्त्वार्थसूत्र ९-६
११. वही ६-२३
१२. वही ६-२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगे बढ़ाया। उन्होंने बारहविध तप का विशेष स्पष्टीकरण किया और आभ्यंतर तप के छः भेदों एवं उनके प्रभेदों का निरूपण करके तप के अर्थ को और विस्तृत किया। अकलंक ने गीता सम्मत मौन का अंतर्भाव कायक्लेश में किया किन्तु उसे बाह्य तप क्यों माना वह चिन्त्य है। यद्यपि मौन का सम्बन्ध मन से है, फिर भी इसकी संगति इस ढंग से बिठाई जा सकती है कि मौन में जिह्वानियंत्रण शारीरिक है।[१] औपपातिकसूत्र में द्वादशविधि तप भेदों के बहुत से प्रभेद पाये जाते हैं।[२] इस तरह प्रभेदों की संख्या बढ़ती गई और तप का अर्थ धीरे-धीरे अत्यन्त विस्तृत बनता गया। इस तरह हम देख सकते हैं कि वैदिक परंपरा में तप समाधि का एक अंग है, जब कि जैन परंपरा में ध्यान (समाधि) तप का एक अंग है। अर्थात् जैन परंपरा में तप का अर्थ वैदिक परंपरा की अपेक्षा अत्यधिक विस्तृत है।

जैन सम्मत तपभेद—जैनाचार्यों ने अन्य बहुत से तप-प्रभेदों का अंतर्भाव स्थानांगगत बारह भेदों में ही किया है। इनमें से बहुत से भेद-प्रभेद वैदिक विचारणा से खूब मिलते-जुलते हैं। यहाँ मुख्यतः बारह भेदों की ही तुलना अभिप्रेत है—

बाह्य तप—

१. **अनशन**—वैदिक और जैन दोनों परंपराओं में चतुर्थ भक्त से लेकर छः मास के उपवास का विधान है। जैन सम्मत चतुर्थ भक्त और अष्टम भक्त मनुस्मृति सम्मत चतुर्थकालिक और अष्टम कालिक है।[३] उमास्वाति ने उपवास के ध्येय को स्पष्ट किया। अकलंक ने एक भुक्त को भी अनशन की कोटि में रखा।[४] अकलंक की इस सुधारणा पर गीता और बौद्ध मंतव्य का असर देखा जा सकता है, क्योंकि ये दोनों धाराएँ एकान्त अनशन को अस्वीकार करती हैं।[५] एक भुक्त का उल्लेख उमास्वाति, पूज्यपाद और औपपातिक सूत्र में नहीं है। अकलंक का यह प्रयास आगे नहीं बढ़ सका, क्योंकि श्री महावीर ने दीर्घकाल तक उपवास किया था। अतः *जैन समाज में आज भी उपवास के प्रति गहरी श्रद्धा देखी जाती है, उतना ही नहीं, वह* साधनरूप होने पर भी उसे आज साध्य माना जाता है जो दुःखद है।

२. **अवमौदर्य**—यह गीतासम्मत युक्ताहार है। मनु और आयुर्वेद भी मिताहार के समर्थक हैं।[६] उमास्वाति अवमौदर्य की तीन कक्षाएँ बताते हैं और ३२ ग्रास को पूर्ण आहार कहते

---

१. पं० दलसुख मालवणिया जी का सुझाव है।

२. औपपातिकसूत्र ३० पृ० ४६

३. चतुर्थकालिको वा स्यात् स्याद्वाप्यष्टमकालिकः। मनुस्मृति ६-१९; ······अष्टमकालिको वा भवेत् त्रिरात्रमुपोष्य चतुर्थस्य अह्नो रात्रो भुञ्जीत। ······सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितमिति कुल्लकभट्टविरचितवृत्ति ६-१९

४. तत्रावधृतकालं सकृद्भोजनं, चतुर्थभक्तादि······ तत्त्वार्थवार्तिक ९-१९-२

५. भगवद्गीता ६-१६

६. भगवद्गीता ६-१६; १७; मितभुक्—आयुर्वेद। मनुस्मृति २-५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं ।[१] औपपातिक सूत्र में पाँच कक्षाएँ हैं—८, १२, १६, २४ और ३१ ग्रास प्रमाण । वहाँ ग्रास को कुक्कुट-अंड-प्रमाण बताया है, जिस पर विश्वामित्र कल्प का असर है ।[२] मुनि आपस्तंब गृहस्थ के लिए ३२ ग्रास और मुनि के लिए ८ ग्रास भोजन का विधान करते हैं ।[३] इससे स्पष्ट है कि जैन परंपरा कुछ अधिक उदार है ।

औपपातिक सूत्र (३०) में एक पात्र, एक वस्त्र और एक उपकरणरूप द्रव्य अवमौदर्य को (जो अन्न से संबंधित नहीं है) भी अंतर्भूत करके अवमौदर्य के अर्थ को और विस्तृत किया था । क्रोध, मान, माया, लोभ, शब्द और कलह की अल्पता को भाव अवमौदर्य कह कर इस तप का संबंध मन से जोड़ दिया, एवं अवमौदर्य के स्थूल अर्थ को चित्त शुद्धि की दिशा में आगे बढ़ाकर सूक्ष्म किया । भाव अवमौदर्य पर गीता का असर है ऐसा अनुमान कर सकते हैं क्योंकि गीता भी बाह्याचार की अपेक्षा आंतर शुद्धि पर अधिक बल देती है ।

३. **वृत्तिपरिसंख्यान**—इसका ध्येय आशानिवृत्ति है । औपपातिकसूत्र में अभिग्रह संबंधी ३० प्रभेद बताये हैं । मनुस्मृति भी यति को भिक्षा के बारे में हर्ष-शोक रहित रहने को कहती है ।[४]

४. **रस परित्याग**—उमास्वाति स्पष्ट करते हैं कि मद्य, मांस, मधु, मक्खन आदि रस विकृतियों का (वृष्य अन्न का) त्याग आवश्यक है, जबकि मनुस्मृति में गाँव में लभ्य चावल यव आदि आहार का त्याग करके केवल शाक, मूल एवं फल के आहार का विधान है । यहाँ दोनों परंपराओं का ध्येय एक है, फिर भी जैन मत कुछ उदार सा दीखता है ।

५. **विविक्त शय्या-आसन**—जहाँ यतिधर्म में बाधा न पहुँचे ऐसा एकान्तस्थान वा विविक्त शय्यासन है, जिसकी तुलना गीता सम्मत एकान्त देश का सेवन एवं जनसंपर्क में अरुचि (ज्ञान का लक्षण) के साथ की जा सकती है ।[६] औपपातिक सूत्र में युति संलीनता के चार प्रभेदगत एक प्रभेद विविक्त शय्यासन है । वहाँ इन्द्रिय प्र०, कषाय प्र० और योग प्र० का भी अंतर्भाव करके बाह्यतप के अर्थ को अधिक विस्तृत किया है । इन्द्रिय प्र० गीता संमत इन्द्रियों के विषय में वैराग्य (ज्ञान का लक्षण) और इन्द्रियों का अनासक्ति पूर्वक उपयोग है । क्रोधादि कषाय प्र० की तुलना गीता संमत काम, क्रोध एवं लोभ के त्याग के साथ की जा सकती है । योग प्र० का एक प्रभेद मनोयोग प्र० गीता संमत मानसिक तप है; वचोयोग प्र० गीता संमत

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ९-१९ स्वोपज्ञभाष्य

२. औपपातिकसूत्र ३० । कुक्कुटाण्डप्रमाणं तु ग्रासमानं विधायते । विश्वामित्रकल्प उद्धृत आह्निक सूत्रावलि पृ० २११

३. अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशाऽरण्यवासिनः ।
द्वात्रिंशत्तु गृहस्थस्य ह्यमितं ब्रह्मचारिणः ।। आपस्तंब उद्धृत आन्हिकसूत्रावलि: २१५

४. मनुस्मृति ६-५७

५. तत्त्वार्थसूत्र ९-१९; मनुस्मृति ६-३; ५

६. तत्त्वार्थसूत्र ९-१९; सर्वार्थसिद्धि ९-१९; भगवद्गीता १३-१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाचिक तप है[1] और काययोग प्र० गीता सम्मत स्थितप्रज्ञ का एक लक्षण है। दोनों में कछुए का उदाहरण दिया है।[2] अतः हमें स्वीकार करना होगा कि औपपातिक सूत्रगत इस निरूपण का उद्देश्य आभ्यंतर तप की ओर गति करते हुए व्यापक एवं सूक्ष्म अर्थ करना है।

६. **कायक्लेश**—जैनाचार्यों ने कायक्लेश के विभिन्न उदाहरण दिये हैं,[3] जिनमें से कुछ उदाहरण वैदिक परंपरा से मिलते-जुलते हैं जैसे—

जैन परंपरा		वैदिक परंपरा
१. वीरासन, उत्कडुकासन, एकपार्श्वशयन दंडायतशयन	—	पातंजल योग एवं हठयोग संमत योगासन
२. आतापन	—	सूर्यताप
३ अप्रावृत	—	कौपीनवान्[4]
४. निरावरण शयन	—	अनिकेत[5]
५. वृक्षमूले निवास	—	वृक्षमूले निवास[6]

(ख) आभ्यंतर तप—

उमास्वाति ने आभ्यंतर तप के छः भेदों के प्रत्येक के अनुक्रम से ९, ४, १०, ५, २ और ४ प्रभेद बताकर अर्थ को अधिक विस्तृत किया है, जबकि औपपातिक सूत्र में प्रायश्चित्त और विनय के सिवाय अन्य प्रभेद समान हैं। वहाँ प्रायश्चित्त के १० और विनय के ७ प्रभेद बताये हैं इतना ही नहीं, आभ्यंतर तप के इन सभी प्रभेदों के भी बहुत से प्रभेद बताये हैं,[7] जिनकी विचारणा यहाँ अप्रासंगिक है, यहाँ केवल मुख्य छः भेदों की ही तुलना अभिप्रेत है।

१. **प्रायश्चित्त**—अकलंक ने प्रायश्चित्त शब्द के दो अर्थ दिये हैं—(क) प्रायः साधुलोकः तस्य यस्मिन् कर्मणि चित्तम् इति। (ख) प्रायः अपराधः, तस्य चित्तं शुद्धिः इति।[8] इनमें से दूसरा अर्थ वैदिक परंपरा में भी है, जैसे—प्रायः पापं समुद्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्।[9] हेमाद्रि एक अन्य अर्थ भी बताता है कि प्रायो नाम तपो प्रोक्तं चित्तं निश्चय इष्यते।[10] अकलंक ने प्रथम अर्थ जैन विचारधारा के अनुकूल (प्रायः=साधुलोकः) दिया है ऐसा मानना पड़ेगा। प्रायश्चित्त के नौ प्रभेदगत आलोचन, प्रतिक्रमण और तदुभय वैदिक परंपरा सम्मत पाप प्रकटीकरण एवं अनुतापन है।[11]

१. भगवद्गीता १३।८; ३।७, १६।२१, २२, १७।१५; १६
२. औपपातिक सूत्र ३०। यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। भगवद्गीता २।५८
३. तत्त्वार्थसूत्र ९।१९; त० सर्वार्थसिद्धि ९।१९; तत्त्वार्थवार्तिक ९।१९
४. मनुस्मृति ६।२६; ४३; ४४ भगवद्गीता १२-१९
५. वही
६. वही
७. तत्त्वार्थसूत्र ९।२१ से ४६; औपपातिक सूत्र ३०
८. तत्त्वार्थवार्तिक ९।२२।१
९. शब्दकल्पद्रुम
१०. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी—आप्टे
११. ख्यापनेनानुतापेन···मनुस्मृति ११।२२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२, ३. विनय एवं वैयावृत्त्य वैदिक परंपरासंमत आचार्योपासनरूप ज्ञान का एक लक्षण है।[1]

४. स्वाध्याय गीता सम्मत वाचिक तप है।

५. व्युत्सर्ग में बाह्य वस्तुओं एवं क्रोधादि दोषों का त्याग है, जो वैदिक परंपरा सम्मत है।

६. चतुर्विध ध्यानगत पृथक्त्व वितर्क और एकत्व वितर्क पातंजलयोग की संप्रज्ञात समाधि है।[2]

इस विचारणा के आधार पर हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि जैनाचार्यों ने वैदिक परंपरा के इस मार्ग का, बिना किसी पूर्वाग्रह के, तलस्पर्श अभ्यास करके, जो बातें अपने मत के अनुकूल थीं, उनको स्वीकार करके, परंपरा प्राप्त एतद्विषयक विचारों का क्रमशः स्पष्टीकरण, शुद्धीकरण एवं विस्तृतीकरण करते हुए, तप का संबंध मन एवं आत्मा के साथ जोड़ने का सजग तथा सयुक्तिक परिश्रम किया है। अस्तु (औपपातिक सूत्र का तपनिरूपण विभाग तत्त्वार्थसूत्र के बाद के समय का है)।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

आह्निक सूत्रावली — निर्णय सागर प्रेस–चतुर्थ संस्करण

उत्तररामचरितम् — नाटकम्

औपपातिक सूत्र — संपादक श्री मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

ऋग्वेद संहिता — सायण भाष्य–वैदिक संशोधन मंडल, पुणे, द्वितीय संस्करण

किरातार्जुनीयम् — भारवि–मल्लिनाथ कृतव्याख्या–निर्णय सागर प्रेस ई० सं० १९४२

कुमारसंभवम् — कालिदास

केनोपनिषद् — शांकरभाष्य–गीता प्रेस, गोरखपुर, प्रथम संस्करण

गीता — भगवद्गीता

ठाणांग —

तत्त्वार्थसूत्र — तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्–स्वोपज्ञभाष्य–बंगाल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, संवत् १९५९

तत्त्वार्थसर्वार्थसिद्धि — जैनेन्द्र मुद्रणालय, कोल्हापुर, द्वितीय संस्करण

तत्त्वार्थवार्तिक — राजवार्तिक-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ई० सं० १९४४

पातंजलयोगसूत्र — योगदर्शन तथा योगविंशिका-संपादक पं० सुखलालजी, जैन आत्मनन्द सभा, भावनगर, ई० सं० १९५२

पातंजलयोगसूत्र — योग दर्शन–व्यासभाष्य–व्याख्याकार ब्रह्मलीन मुनि, चौखम्बा प्रकाशन ई० सं० १९७०

१. भगवद्गीता १३।७

२. पातंजल योगदर्शन, यशोविजयकृत वृत्ति १।१७–१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पालिइंग्लिश डिक्शनरी–लंडन
बुद्धचरितम् — अश्वघोष–प्रकाश व्याख्या, चौखम्बा प्रकाशन ई० स० १९७२
भागवतम् — मूलमात्र–गीता प्रेस, गोरखपुर, प्रथम संस्करण
मनुस्मृति — कुल्लूक भट्टवृत्ति–निर्णय सागर प्रेस, ई० स० १९२५
महाभारतम् — मूलमात्र–गीता प्रेस, गोरखपुर सं० २०१३-१४
मुंडकोपनिषद् — गीता प्रेस, गोरखपुर, शांकरभाष्य, प्रथम संस्करण
योगशास्त्र — हिन्दी अनुवाद, नेमिचंद्रजी, निग्रंथ साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम आवृत्ति
रघुवंश — कालिदास
रामायण — वाल्मीकि रामायण–हिन्दी भाषान्तर–गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण
शब्दकल्पद्रुम — चौखम्बा प्रकाशन–सं० २०२४
संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी — आप्टे–मोतीलाल बनारसीदास ई० स० १९६५
सिद्धान्त कौमुदी — उत्तरारार्ध–पं० सीताराम शास्त्री, बनारस सं० १९९०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org